भारत में बचपन का अध्ययन

कृष्ण कुमार

बचपन के बारे में भारत में बीती सदी में जो विचार प्रभावशाली रहे हैं उन पर एक नज़र, और यह समझने की कोशिश कि इस नई सदी में बच्चों के पालन के लिए, उनकी शिक्षण पद्धति के लिए और राजनीति के लिए उन विचारों के क्या मायने हैं।

बचपन को एक विश्लेषणात्मक शब्द के रूप में इस्तेमाल करने की हमारी क्षमता कई चीज़ों के ज्ञान की किस्म और मात्रा पर निर्भर है, जैसे अतीत और वर्तमान में बच्चों का पालन-पोषण, शिक्षण, बाल साहित्य और खुद बच्चों के बारे में हमारी जानकारी। ये बचपन का अध्ययन करने के बौद्धिक प्रयास के विशिष्ट क्षेत्र हैं और हमारी शैक्षिक संस्थाओं में इनमें से किसी को भी बहुत अच्छे ढंग से विकसित नहीं किया गया है। इसलिए, जब हम बचपन की चर्चा करते हैं तो हमें उन सीमाओं को ध्यान में रखना होगा जो ज्ञान की उपलब्धता द्वारा हमारे अध्ययन के लक्ष्यों के लिए निर्धारित कर दी जाती हैं। इन सीमाओं के एक प्रमुख आयाम का सम्बन्ध उन विविध प्रकार की परिस्थितियों से भी है जिनमें हमारे देश का बचपन जीता है।

विविधता एक भ्रामक शब्द है, इससे भूगोल और संस्कृति से निकलने वाले आकर्षक अन्तर तो उजागर होते हैं, पर उस असमानता से उपजने वाले अन्तरों को ढँकने की कोशिश की जाती है जिसकी जड़ें आर्थिक दशाओं और जातिगत ऊँच-नीच में जमी होती हैं। जब विविधता की बात को बचपन पर लागू किया जाता है तब वह संस्कृति के माध्यम से लैंगिक आधार पर उपजाए जाने वाले तीखे भेदभावों को भी छिपाने की कोशिश करती है। यह कहना कोई बहुत गलत नहीं होगा कि गरीबी और लड़कियों के मामले में भारत में बचपन कोई बहुत विविधतापूर्ण नहीं है। हमें बचपन का अध्ययन करने के लिए 'ग्रामीण बच्चों' और 'शहरी बच्चों' को भी प्रासंगिक श्रेणियों में रखना होगा। दरअसल, भारत के आर्थिक विकास की बढ़ती उतावली वाले चरणों में इनकी प्रासंगिकता भी बढ़ रही है।

वाकई में हमें भी बचपन के अध्ययन के लिए 'जबरन विस्थापन से प्रभावित बचपन' जैसी नई श्रेणियों को उसी तरह शामिल करना पड़ सकता है जैसे कि संयुक्त राष्ट्र ने भी युद्ध और स्थानीय हिंसा से उपजने वाली मुश्किल परिस्थितियों में बीतने वाले बचपन को पहचाना है।

यूरोप का बच्चा

भारत में बचपन पर किए जाने वाले हमारे चिन्तन पर इस विषय पर उपलब्ध प्रमुख वैश्विक संवाद का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। हालाँकि, इस तरह के संवाद से बचपन का जो मानक स्वरूप उभरा है उसका अपना महत्व है किन्तु वह स्वरूप हमारे आसपास के बचपन के अध्ययन के प्रयासों पर एक खास सोच और दृष्टिकोण थोप देता है। दरअसल यह समस्या उस प्रशिक्षण से जुड़ी हुई है जो हमारी जिज्ञासा ने औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था के तहत प्राप्त की है। हम या तो यूरोपीय अनुभव की प्रतिकृति को तलाशने की कोशिश करते हैं या फिर हम प्रतिक्रिया स्वरूप उससे बिलकुल विपरीत अनुभव की आकांक्षा

संजो लेते हैं। आधुनिक दुनिया की बीज-विचारधारा के रूप में उपनिवेशवाद अपनी शैक्षिक सन्तान के सामने बहुत सीमित विकल्प ही छोड़ता है। इसके अलावा हमारा संवाद हमारे अपेक्षित श्रोताओं के स्थान द्वारा भी निर्धारित होता है। ज्ञान की किसी भी नई परियोजना में इन मजबूरियों को ध्यान में रखना ज़रूरी है और यह बात खास तौर पर बचपन जैसे उन अध्ययन-क्षेत्रों पर कहीं अधिक लागू होती है जहाँ शोधकार्य की बहुत कमी है।

स्वतंत्रता, वैयक्तिकता और समानता के विमर्श के रूप में बच्चे को देखने की शुरुआत 18वीं सदी के मध्य में पश्चिमी यूरोप में हुई थी। यह पदावली शैक्षणिक आधुनिकता तथा बचपन को वयस्कता से बिलकुल अलग करने की सोच के केन्द्र में है। इस विमर्श को 150 साल हो चुके थे जब मॉण्टेसरी और पियाजे जैसे विद्वानों ने बचपन का रेखाचित्र खींचा था। इन दोनों ने ही बच्चों के दिमाग के विकास को जीवविज्ञान में स्थित पाया।

पर परिवेश के साथ सम्बन्ध को लेकर जीवन के अध्ययन में पहले ही एक बड़ा बदलाव हो चुका था। बचपन का व्यवहारवादी अध्ययन आज बहुत सरलीकृत और आलोचना के योग्य लगता है, लेकिन इसने बचपन के सन्दर्भ में परिवेश की भूमिका को उजागर करके वंशानुगत क्षमताओं के सिद्धान्तों पर एक महती विजय हासिल की। एक समानान्तर विकास क्रम में फ्रॉयडवादी मनोविश्लेषण ने प्रारम्भिक बचपन के अनुभव की निर्माणात्मक प्रकृति को दर्शाया। फ्रॉयड द्वारा दिए गए कुछ निर्धारणात्मक किस्म के

स्पष्टीकरण ने सामाजिक और राजनैतिक प्रक्रियाओं को उस दिशा में मोड़ा जिसमें बच्चों की शिक्षा व स्वास्थ्य उनकी सर्वोच्च प्राथमिकताएँ बन गईं।

विभिन्न शैक्षिक क्षेत्रों के विद्वानों ने फ्रॉयड के सिद्धान्त के इस निर्धारणकारी तत्व पर सवाल खड़े किए, जिनसे प्रारम्भिक बचपन की देखरेख की कई प्रक्रियाओं में बहुत विकास हुआ। सीखने के सैद्धान्तीकरण की विभिन्न धाराओं के बीच उभरी पाश्चात्य चर्चाएँ, 20वीं सदी के प्रारम्भ में राजनैतिक रूप से गतिशील ऐसे लोकाचार के तहत आगे बढ़ीं जो विभिन्न प्रकार के लोकतांत्रिक संघर्षों द्वारा निर्धारित हुआ था। खुद यूरोप को अपने राजनैतिक विकास की प्रक्रिया में वफादार नागरिक के विचार पर रूसो द्वारा उठाए गए सवाल के कई अलग-अलग जवाब मिले। रूसो का प्रयास एक ऐसे बच्चे की कल्पना में केन्द्रित था जिसे प्रकृति ने स्वतंत्र बनाया था। ऐसे बच्चे को शिक्षित कैसे किया जाए? यह महत्वपूर्ण सवाल शैक्षणिक प्रगति के इतिहास की तथा बाल-केन्द्रित शिक्षण और नागरिक बनाने हेतु शिक्षा की पद्धतियों के बीच के अन्तर्विरोधों की बुनियाद है।

हमारा औपनिवेशिक सन्दर्भ

अक्सर हम इन मसलों को समझने में नाकाम रहते हैं। और इन मसलों के निहितार्थों को औपनिवेशिक सन्दर्भ में समझने का प्रयास नहीं करते हैं। ऐसा इसलिए नहीं है कि हमारे पास मार्गदर्शन की कमी है। इस सन्दर्भ में हमारे पास गाँधी और टैगोर जैसे उत्कृष्ट शिक्षक रहे हैं। उनकी विरासत को आगे बढ़ाते हुए देवी प्रसाद ने बच्चे को विपत्ति में फँसी हुई एक ऐसी संस्कृति का रूपक माना जो अपनी वेदना को व्यक्त करने के माध्यमों की तलाश में तड़प रही थी। उसके शरीर से प्राण निकाले जा चुके थे। उपनिवेशी मानसिकता में भलीभाँति रचे-बसे भारत के नागरिक होने के चलते हम अपने राष्ट्रीय विकास में इतने तल्लीन रहे कि हमने इन शिक्षकों की बातों को गौर से सुना ही नहीं। हमें ज़रूरत है कि हम अपने राजनैतिक इतिहास को और अधिक कल्पनाशीलता के साथ पढ़ें। अगर हम ऐसा करने के लिए राज़ी हो जाते हैं तो हम उस रूपान्तरकारी क्षण को देख पाएँगे जब बच्चे स्वतंत्र राष्ट्रवाद के प्रतीक बना दिए गए थे।

यह लाक्षणिक घटना 1930 के दशक में हुई थी जब गाँधी खुद को ऐसे जादुई नेता के रूप में स्थापित कर चुके थे जो साधारण नमक को भी सामूहिक जोश और जुनून में तब्दील कर सकता था। प्रेमचंद की एक कहानी *ईदगाह* में इस क्षण को संजोया गया है। कहानी का नायक, एक गरीब मुस्लिम बच्चा अपने धनी पड़ोसियों के सामने धौंस जमाता है। उसने गाँव के मेले से एक चिमटा खरीदा था जबकि इन धनी बच्चों ने मिट्टी

के खिलौने खरीदे थे जो घर आते-आते टूट गए थे। हामिद अपने चिमटे को एक अद्‌भुत खिलौने की तरह पेश करता है और अलग-अलग भूमिकाओं में उसकी कल्पना पेश करता है, पर जब वह अपनी दादी को बताता है कि वह चिमटा उसने उनके लिए खरीदा है तो

यह बात उसकी दादी को अन्दर तक छू जाती है। हामिद की इस सूझबूझ से भरी अनगढ़ कल्पनाशीलता, और उसकी मौखिक व नैतिक लड़ाई में गाँधी की शैली की झलक दिखती है जिसने भारत के जनमानस के दिलो-दिमाग को अनोखे प्रतीकों जैसे नमक और खादी के द्वारा आन्दोलित कर दिया था। इस शैली में बचाव की ऐसी प्राचीन विद्या के संकेत थे जिसका लक्ष्य उस सभ्यता को पुनर्जीवित करना था जो अपनी आत्मा खो चुकी थी।

यह कोई संयोग नहीं है कि 1930 के दशक में हिन्दी और अन्य कई भाषाओं में बच्चों के साहित्य के लिए एक लम्बा सुनहरा समय आया। अगले दो दशकों में बच्चों के लिए प्रकाशित लेखन का दायरा और उसकी कोटि यह दिखाते हैं कि उस समय बचपन को समझने की एक निराली सृजनात्मक प्रक्रिया अपनाई गई थी। इस लहर में विभिन्न प्रकार के तत्व थे। बच्चे की परवरिश और उसकी शिक्षा को लेकर प्रयोग और बहस का माहौल था। गाँधी द्वारा की गई उस वक्त की स्कूली शिक्षा की समालोचना, और शिक्षण पद्धति की आधुनिक शैली के क्रान्तिकारी स्वरूप के उनके प्रस्ताव को इसी व्यापक सन्दर्भ में देखा जाना चाहिए। टैगोर और गाँधी ने शिक्षण पद्धति की अपनी अलग-अलग दृष्टियों और सरोकारों के द्वारा बचपन को गढ़ने के साहसिक प्रयास किए। मार्जरी साइक्स ने अपने व्यक्तिगत और व्याख्यात्मक प्रयासों से इन दोनों के विचारों के बीच सेतु बनाया। यह प्रयास ऐसे किसी भी व्यक्ति के लिए बहुत ही दुर्लभ महत्व की चीज़ है जो बचपन को समझने के लिए किए गए महत्वपूर्ण तार्किक प्रयासों के इतिहास

में दिलचस्पी रखता हो।

संरक्षण का विचार

यूरोपीय इतिहास और सोच का परिणाम हमें एक विस्तारित और संरक्षित बचपन के विचार के रूप में देखने को मिला। हम संरक्षण के इस विचार के दो पहलुओं में भेद कर सकते हैं। एक था कामकाज में लगने से बच्चों को शारीरिक संरक्षण देना और दूसरा था लैंगिकता के अच्छे-बुरे ज्ञान से तथा उससे जुड़े सामाजिक प्रचलनों से बच्चों को बचाकर रखना। पहले पहलू का नतीजा बच्चों की अनिवार्यतः देखभाल किए जाने के अधिकार के रूप में सामने आया, और उनकी देखभाल सिर्फ परिवार द्वारा ही नहीं की जानी थी बल्कि राज्य द्वारा संचालित संस्थागत तंत्र द्वारा भी की जानी थी। दूसरे पहलू के परिणामस्वरूप एक धारणा बनी जिसमें बचपन को लैंगिक मामलों के बारे में भोलेपन और अज्ञान का दौर माना गया जो प्रसुप्ति (लेटेंसी[1]) के मनोवैज्ञानिक काल के साथ चलता था और उसे बढ़ा देता था। यूरोपीय बाल साहित्य की कई उत्कृष्ट रचनाएँ इस विचार से ओतप्रोत हैं और वे लम्बी प्रसुप्तता का मज़ा लेते बच्चों के निश्छल कारनामों को चित्रित करती हैं।

उपनिवेश रहे हमारे जैसे राष्ट्र के लिए ऊपर बताए गए दो में से प्रथम पहलू कठिन एवं दुविधाजनक साबित हुआ। ग्रामीण भारत की ज़िन्दगी में बच्चे का अपने परिवार के पेशे में भागीदारी निभाना एक यथार्थ है, और यह स्थिति खेतिहर और दस्तकारी, दोनों अर्थव्यवस्थाओं में है। परिवार की आय बढ़ाने में बच्चे की भागीदारी को रोकने के आधुनिक विचार का सामंजस्य इस यथार्थ के साथ आसानी से नहीं बैठाया जा सकता है। आधुनिक राज्य इस प्रेरणा से संचालित होता है कि हर तरह की बाल मज़दूरी पर प्रतिबन्ध लगाया जाए ताकि प्रत्येक बच्चे को स्कूली शिक्षा प्राप्त नागरिक बनाया जा सके। इसके बावजूद बाल मज़दूरी जारी रही है और नए-नए रूप लेती जा रही है, जैसे कि वेश्यावृत्ति और शहर के घरों में नौकर बनना। दूसरी तरफ अनिवार्य शिक्षा का विचार ठोस आधार और सार्थकता पाने के लिए संघर्षरत है। राज्य बच्चों के शिक्षकों को गरिमा देने में ही विफल रहा है, बच्चों के साथ गरिमामय व्यवहार तो दूर की बात है।

दूसरा आधुनिक मानदण्ड बच्चों के भोलेपन के विचार को आगे बढ़ाता है। इसका अर्थ हुआ प्रसुप्तता वाले वर्षों में बच्चों को लैंगिकता से दूर

---

[1] सिग्मंड फ्रॉइड ने बच्चे के मानसिक-लैंगिक (psychosexual) विकास को पाँच चरणों में विभाजित किया था जिसमें से एक है - लेटेंसी। बचपन की वह अवस्था जो मौजूद तो होती है लेकिन पूरी तरह विकसित नहीं हुई होती। इस अवस्था के दौरान मानसिक-लैंगिक व्यवहार का विकास नहीं होता है और अधिकतर लैंगिक भावनाएँ दबी हुई रहती हैं।

रखना और किशोरावस्था में लैंगिक व्यवहार करने से दूर रखना। यूरोप में आधुनिकता का अर्थ था लैंगिकता से भरी कल्पनाशीलता से बच्चों को मुक्त करना, स्वाभाविक गति से और पूरी तरह सचेत रहकर उन्हें लैंगिकता का एहसास करने की स्वतंत्रता देने में मदद करना। बचपन के बारे में यूरोपीय आदर्श के इस दूसरे पहलू ने प्रसुप्तता के वर्षों को बौद्धिक विकास के एक महत्वपूर्ण दौर के रूप में पहचान दिलाने में बड़ी भूमिका निभाई है। बचपन के दौरान दैहिक शोषण से मुक्ति पाना, श्रम करने से मुक्ति पाने की तुलना में कहीं अधिक मुश्किल साबित हुआ है।

बचपन के बारे में होने वाले वैश्विक विमर्श, जिसकी जड़ें यूरोपीय सोच और अनुभव में थीं, ने हमें इस बात से अवगत कराया है कि हमारे सामने जो विषय है उसके न सिर्फ कई आयाम हैं बल्कि कई परतें भी हैं। दुनिया में बालविवाह की प्रथा से ग्रस्त कई समाजों में से एक होने के नाते, जहाँ सिर्फ तीन पीढ़ियों पहले तक बाल विवाह एक सामान्य बात थी और आज भी इसका बहुत प्रचलन है, हमें इस बात को समझना होगा कि राज्य और कानून को इस तरह की परम्पराओं और रिवाज़ों की ताकत के खिलाफ कितना संघर्ष करना पड़ता है। बाल विवाह के सन्दर्भ में कानून न्याय दिलाने का काम ऐसी जगह कर रहा है जहाँ कोई लैंगिक समानता नहीं है। इसलिए वह किशोरों द्वारा किए गए यौन अपराधों से निपटने में नाकाम साबित हो रहा है जिनमें पीड़ित अधिकांशतः लड़कियाँ होती हैं।

बचपन में लिंगभाव का विकास

बचपन में लिंगभाव की उत्पत्ति और रचना की प्रक्रिया का अध्ययन हमें ऐसी सीमा पर ले जाता है जिसे हम जानी-पहचानी मानने की भूल करते हैं। नारीवादी आन्दोलन और विद्वानों ने यह भलीभाँति दिखा दिया

है कि बचपन के बारे में हमारा सामान्य ज्ञान कितना अधूरा और असन्तुलित है। साथ ही, इस मुलगामी (रैडिकल) वैचारिकी ने कई लोगों को यह भरोसा दिला दिया है कि शिक्षा के माध्यम से जल्दी ही लैंगिक असन्तुलन ठीक हो जाएगा। लड़कियों के बचपन का अध्ययन करने के मेरे अपने प्रयास से मुझे यह समझ में आया है कि हमारी यह उम्मीद बेबुनियाद है। हाल में प्रकाशित मेरी किताब *चूड़ी बाज़ार में लड़की* में मैंने लड़कियों के बचपन का मनोवैज्ञानिक और लाक्षणिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें उन कठिनाइयों को दर्शाया गया है जो हमारे सामने तब आती हैं जब हम लड़कियों को बचपन की उस आम धारणा में शामिल कर लेते हैं जिसका आधार वास्तव में लड़कों के बचपन का विचार और चित्रण होता है।

बच्चों के विकास के बारे में उपलब्ध ज्ञान से समझ में आता है कि 5 से 11 वर्ष की आयु, यानी प्राथमिक स्कूल के वर्षों के दौरान बच्चों की शारीरिक और बौद्धिक क्षमताएँ बढ़ने के साथ ही उनकी रुचियों और गतिविधियों का भी विस्तार होता है। लड़कियों के मामले में, इन्हीं वर्षों के दौरान उनकी शारीरिक गतिविधियों का सीमित होना शुरू हो जाता है, और यह यौवन के कहीं ज़्यादा कठोर दौर के काफी पहले की बात होती है। परिवार में लड़कियों के सामाजीकरण के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं – एक, देह-केन्द्रित दृष्टि, और दूसरा, बुद्धि को सक्रिय रूप से नकारना। लड़कियों की परवरिश में रीति-रिवाज़ और कर्मकाण्ड गहराई से गुँथे हुए होते हैं जो लड़कों के बचपन में नहीं होते, और इन रीति-रिवाज़ों तथा कर्मकाण्डों का शुरुआत से ही स्कूली शिक्षा से टकराव प्रारम्भ हो जाता है।

यह सोचना, कि अपनी स्कूली पोशाक में स्कूल में दाखिल होने वाली लड़की उस 'दूसरी' लड़की को पीछे छोड़ आती है जो अपनी रोज़ की ज़िन्दगी के सभी पहलुओं को रीति-रिवाज़ों और कर्मकाण्डों के अनुसार जीना सीखती है, अपने विश्लेषण को कोरी कल्पना की बुनियाद पर खड़ा करने जैसा होगा। हालाँकि बाल विवाह के मामलों में सांख्यिकीय रूप से कमी आई है, लेकिन लड़कियों के मन को इस तरह से तैयार करना कि शादी और मातृत्व ही उनके जीवन के सबसे बड़े लक्ष्य हैं, यह सोच आम बनी हुई है। ये और बचपन में लिंगभाव के विकास के कई अन्य पहलू कहने पर मजबूर करते हैं कि बचपन के बारे में हमारी आम अवधारणा लड़कियों के अनुरूप नहीं बैठती।

बचपन की जाति

जाति भी एक ऐसा ढाँचा है जिसे भारत में बचपन के बारे में भावी अध्ययनों में शामिल किया जाना चाहिए। एक सामाजिक संस्था के रूप में जाति की ताकत और अपने को बनाए रखने के लचीलेपन को बचपन के दौरान समाजीकरण के एक सशक्त

माध्यम के रूप में जाति के अध्ययन में शामिल नहीं किया गया है। लिंगभाव की दृष्टि से बचपन को देखने के बारे में लीला दुबे का विश्लेषण उन भूमिकाओं की ओर इशारा करता है जिन्हें जाति-केन्द्रित रीति-रिवाज़ और कर्मकाण्ड लड़की के बचपन के शुरुआती और बाद के दौर में निभाते हैं। जहाँ तक जाति व्यवस्था में लड़कों के समाजीकरण का सवाल है तो इसके बारे में आत्मकथाओं के साहित्य में कुछ जानकारी उपलब्ध है। ओम प्रकाश वाल्मीकि जैसे दलित लेखकों द्वारा लिखी गई आत्मकथाएँ उस विराट दायरे के ज्ञान के महत्वपूर्ण स्रोत हैं जिसके भीतर स्कूल उस जाति रूपी व्यवस्था का सामना करता है, या कहें कि उससे बचता है, जो भेदभाव भरे व्यवहार को वैधता प्रदान करती है।

इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि आधुनिकीकरण के एक माध्यम के रूप में शिक्षा की भूमिका को ज़्यादा ही बढ़ा-चढ़ा दिया जाता है जब हम यह मान लेते हैं कि कोई शिक्षित व्यक्ति अपेक्षाकृत कम जातीय सोच रखता होगा। ठीक यही बात शहरीकरण की भूमिका के बारे में भी कही जा सकती है। अगर बचपन के दौरान समाजीकरण के एक प्रमुख माध्यम के रूप में जाति की भूमिका को पूरी तरह से समझना है तो इन दोनों ही मान्यताओं पर सवाल उठाए जाने की ज़रूरत है। भारत में बचपन को अन्ततोगत्वा, एक सामाजिक श्रेणी के रूप में उभरने देने के लिए ऐसी समझ ज़रूरी है।

ब्रेव न्यू वर्ल्ड

इससे पहले कि बचपन राजनैतिक मान्यता के सहारे एक सामाजिक श्रेणी का रूप ले पाता, एक नई अज्ञात दुनिया हमारे दिलो-दिमाग पर छा गई है। यह है सूचना और संवाद तकनीक की नई दुनिया। इसने उन सीमाओं को तोड़ दिया है जिनके भीतर यूरोप ने अपने बचपन को संरक्षित करने का प्रयास किया था। इस कड़ी का बहुत ध्यानपूर्वक परीक्षण करना ज़रूरी है क्योंकि एक तो यह बहुत नई घटना है, और दूसरा इसलिए भी क्योंकि यह कहीं भी पहुँच जाने वाली चपल पूंजी की राजनैतिक अर्थव्यवस्था में पूरी तरह से रची-बसी है। मनुष्य एक-दूसरे से कैसे संवाद करते हैं और कैसे एक-दूसरे को समझते हैं, इस पर नई तकनीक का प्रभाव ज़रूर महसूस किया जा रहा है, लेकिन हम इसकी प्रकृति और प्रभाव के बारे में पूर्ण रूप से नहीं जानते। यह प्रभाव वयस्कों और बच्चों के बीच के सम्बन्धों पर क्या असर डाल रहा है, यह भी इसी तरह अस्पष्ट है।

नया तकनीकी परिवेश सीमाओं को धुँधला कर रहा है चाहे वे सीमाएँ राष्ट्र-राज्यों के बीच की हों, क्षेत्रों की, संस्कृतियों की या विभिन्न आयु-वर्गों की। अब बच्चों तक सीधे पहुँचा जा सकता है और उन्हें भी उपभोक्ता-नागरिकों के वैश्विक समुदाय में शामिल किया जा सकता है। बचपन के सभी

पहलुओं को, जिसमें उनका खेल-व्यवहार भी शामिल है, इस नए समुदाय ने अपने आवरण में ले रखा है जिसे वैश्विक कम्पनियों के बड़े-बड़े समूहों द्वारा संचालित किया जाता है, और ये बच्चों के लिए वीडियो गेम, खिलौने, सोशल मीडिया वेबसाइट बनाते हैं। बच्चे के एकदम निकट रहने वाले वयस्क अब उसके समाजीकरण के लिए ज़िम्मेदार एकमात्र या प्राथमिक माध्यम नहीं रह गए हैं।

माता-पिता अब संरक्षकों की भूमिका अदा नहीं कर सकते, न ही वे बच्चे के ज्ञान की सीमाएँ निर्धारित कर सकते हैं। इस नई व्यवस्था में माता-पिता की तरह ही शिक्षक भी बहुत कुछ नहीं कर सकता। तकनीक-रूमानी दृष्टिकोण से कहें तो यह वह क्षण है जब बच्चा वयस्कों के नियंत्रण और निरीक्षण से स्वतंत्र हो गया है। बच्चे

अब तैयार किए जा रहे नागरिक नहीं रह गए हैं। अब राज्य उन्हें अपने राष्ट्र की वैधानिक नागरिकता प्राप्त करने के बहुत पहले ही वैश्विक बाज़ार की सक्रिय सदस्यता के लिए लैस कर देना चाहता है। यहाँ भी लड़कियों का मामला थोड़ा भिन्न है। लड़कियों में वैश्विक बाज़ार की विशेष दिलचस्पी है क्योंकि उनकी उपभोग शक्ति और तरीकों का सीधा सम्बन्ध स्वयं उपभोग वस्तु बन जाने से है।

बच्चे की सक्रियता और गतिविधियों के इस नए भूगोल ने संरक्षण और मार्गदर्शन की पुरानी धारणा को अर्थहीन बना दिया है। बच्चा अब फिर से इस सीमाओं से मुक्त संसार में असुरक्षित हो गया है। बच्चे के भौतिक कल्याण के लिए और उसके बौद्धिक तथा भावनात्मक विकास के लिए इसके क्या निहितार्थ होंगे इस पर चिन्तन करना होगा। इस विचार और चिन्तन के लिए अभी तक उपलब्ध सिद्धान्तों से हमें ज़्यादा कुछ मार्गदर्शन नहीं मिलेगा।

कृष्ण कुमारः प्रसिद्ध शिक्षाविद् एवं लेखक। शिक्षा के मुद्दों पर सतत चिन्तन एवं लेखन। दिल्ली विश्वविद्यालय में शिक्षा के प्रोफेसर और एन.सी.ई.आर.टी. के निदेशक रह चुके हैं। भारत और पाकिस्तान में शिक्षा पर उनकी दो पुस्तकें, *मेरा देश तुम्हारा देश* और *शान्ति का समर* चर्चित रही हैं। उनकी हाल की पुस्तकों में *शिक्षा और ज्ञान*, *चूड़ी बाज़ार में लड़की* और बच्चों के लिए *पूड़ियों की गठरी* शामिल हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवादः भरत त्रिपाठीः पत्रकारिता की पढ़ाई। स्वतंत्र लेखन और द्विभाषिक अनुवाद करते हैं। होशंगाबाद में निवास।

सभी चित्रः तनुश्री रॉय पॉलः आई.डी.सी., आई.आई.टी. बॉम्बे से एनीमेशन में स्नातकोत्तर। स्वतंत्र रूप से एनीमेशन फिल्में बनाती हैं और चित्रकारी करती हैं।

यह लेख 26 नवम्बर, 2015 को इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी, शिमला में *कंटेस्टेड साइट्सः कंस्ट्रक्शन ऑफ चाइल्डहुड* विषय पर आयोजित सेमिनार में दिए गए व्याख्यान पर आधारित है।

यह लेख *इकॉनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* पत्रिका के 4 जून, 2016 के अंक से साभार।

✦✦✦✦✦